



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2016; 2(2): 91-93

© 2016 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 15-01-2016

Accepted: 19-02-2016

डॉ. कौशल्या शर्मा

व्याख्याता (संस्कृत), से.मु.मा.
राजकीय कन्या महाविद्यालय,
भीलवाड़ा, राजस्थान, भारत

संस्कृत नाटकों में अर्थप्रकृतियाँ: प्रयोजन सिद्धि की हेतु

डॉ. कौशल्या शर्मा

प्रस्तावना

संस्कृत नाटकों का लक्ष्य केवल दर्शकों का मनोरंजन करना ही नहीं है, अपितु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से किसी एक अथवा एक से अधिक की सिद्धि है। पुरुषार्थ साधक इतिवृत्त की पाँच अवस्थाओं के समान पाँच अर्थ प्रकृतियाँ भी होती हैं जो फल के साधन या उपाय हैं अथवा प्रयोजन सिद्धि की हेतु हैं। दशरूपककार के अनुसार—

बीजबिन्दुपताकाख्याप्रकरीकार्यलक्षणः।

अर्थप्रकृतयः पंच ता एताः परिकीर्तिताः।।¹

अर्थप्रकृतयः प्रयोजनसिद्धिहेतवः।

अर्थात् बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य ये पाँच अर्थप्रकृतियाँ कही गयी हैं। जो प्रयोजन सिद्धि की हेतु हैं।

अवस्था का सम्बन्ध प्रधानतया नायक की मानसिक दशा तथा कथा विकास क्रम से हैं और अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध कथावस्तु के उपादान कारणों से। अवस्था—मूलक भेद का विकास मनोवैज्ञानिक आधार पर हुआ है और उपायमूलक अर्थ प्रकृति के भेदों का विकास इतिवृत्त की शारीरिक रचना पर। अतः अवस्था मूलक और उपायमूलक दोनों भेदों द्वारा इतिवृत्त की आन्तरिक और बाह्य प्रवृत्तियों का समन्वय होता है।

नायक का जिस अर्थ प्रकृति से जितना अधिक प्रयोजन होता है वही अर्थ प्रकृति प्रधान होती है। दूसरी अर्थप्रकृतियाँ वर्तमान होने पर भी अविद्यमान सी होती हैं, जिस प्रकार पताका और प्रकरी में पराक्रमशाली पात्रों के रहते हुए भी प्रधान नायक की ही मुख्यता रहती है, न कि पताका नायक या प्रकरी—नायक की, उसी प्रकार अर्थ—प्रकृतियों में जो सर्वाधिक प्रयोजन सिद्धि का कारण बनती है, वही प्रधान होती है—

“ऐतेषां यस्य येनार्थो यतश्च गुण इष्यते।

तत्प्रधानं तु कर्तव्यं गुणभूतान्यतः परम्।।”²

ये पाँचो अर्थ प्रकृतियों नायक के इष्ट लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होती हैं अथवा कथानक को नाटकीय रूप देने में नाटककार के लिए साधन स्वरूप होती हैं।

1 बीज: उस फल का निमित्त बीज कहलाता है, जिसका आरम्भ से सूक्ष्म रूप से संकेत किया जाता है और आगे चलकर अनेक प्रकार से विस्तार होता है—

“स्वल्पोद्धिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।”³

प्रदर्शन के प्रति नाटक के दर्शकों का मूल मनोभाव निर्धारित करने का साधन बीज ही है। स्थायी भाव का अन्तःमुखी साक्षात्कार रसानुभव का कारण है। नाटकीय प्रदर्शन के साक्षात्कार में दर्शक स्वत्व — परत्व प्रतीति से ऊपर उठ जाता है, व्यक्तिगत भावों से प्रभावित नहीं होता है। सहृदय का नायक के साथ तादात्म्य ही अन्तर्मुखी साक्षात्कार का कारण है। दर्शक नायक अथवा नाटक के लेखक के दृष्टिकोण से प्रदर्शन देखता है, अतएव नाटक के लेखक के लिए यह परमावश्यक है कि स्वरचित नाटक के प्रदर्शन के प्रति दर्शक के मनोभाव को वह यथासम्भव प्रदर्शन के आदि भाग में ही निर्धारित

Correspondence

डॉ. कौशल्या शर्मा

व्याख्याता (संस्कृत), से.मु.मा.
राजकीय कन्या महाविद्यालय,
भीलवाड़ा, राजस्थान, भारत

कर दे। नाटककार दर्शक के मूल मनोभाव का निर्धारण सरस नाटकीय रूप में करता है।

मूल मनोभाव के निर्धारण के साथ ही 'बीज' से दर्शक को सूचनाएँ भी प्राप्त हो जाती है। मूल कथानक में नायक के जीवन का एक विशिष्ट अंश ही प्रदर्शित किया जाता है। अतएव दर्शक को यह ज्ञापित करना आवश्यक होता है कि कौन सी परिस्थितियों अथवा घटनाओं से कार्य की उत्पत्ति होती है। दर्शक को ऐसी घटनाओं की सूचना देना 'बीज' का दूसरा प्रयोजन है।

2 बिन्दु: अवान्तर प्रयोजन की समाप्ति से कथावस्तु के (मुख्य) प्रयोजन में विच्छेद प्राप्त हो जाने पर जो उसके अविच्छेद का कारण होता है, वह बिन्दु है—

'अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्।⁴

नाटक में प्रदर्शित कार्य एवं घटनाएँ नायक के प्रधान अथवा अप्रधान फल की प्राप्ति में सहायक होती हैं। नायक के प्रधान प्रयोजन की सिद्धि अनुकूल परिस्थितियों पर निर्भर करती है तथा अनुकूल परिस्थितियों उपप्रयोजनों की सिद्धियों से उत्पन्न होती हैं। अतएव उप प्रयोजनों की सिद्धि की विधायक घटनाओं को प्रदर्शित करना अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु इन घटनाओं के प्रदर्शन से प्रधान कार्य कुछ काल तक अन्तर्लीन सा हो जाता है और उसकी निरन्तरता भग्न सी हो जाती है। ऐसी अवस्था में प्रधान कार्य के प्रदर्शन का आरम्भ पुनः कैसे किया जाये ? भरत के अनुसार संस्कृत नाटकों के लेखकों का इस प्रसंग में मानवीय सिद्धान्त यह रहा है कि जितनी बार मुख्य कार्य में भग्नता उत्पन्न हो अथवा जितनी बार परिस्थिति परिवर्तन हो, उतनी ही बार नाटक के नायक को मुख्य कार्य की प्रयोजक शक्ति का स्मरण एवं अनुसन्धान करते हुए प्रयोजक शक्ति के इस अनुसन्धान के अनुसार अपने को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल बनाते हुए, प्राप्त साधनों को उपयोग करते हुए एवं वर्तमान परिस्थिति में इस प्रकार आचरण करते हुए प्रदर्शित करना चाहिए, जिससे कि वह सिद्धि प्राप्ति के और भी अधिक निकट पहुँच जाये। लक्ष्य निश्चय से लेकर उसकी सिद्धि तक प्रयोजक शक्ति का स्मरण एवं अनुसन्धान आवश्यक है। क्योंकि नाटक के नायक द्वारा आदि से लेकर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन जनक अवसर तक की निज प्रयोजन से सम्बद्ध सम्पूर्ण परिस्थिति का मानसिक पर्यवेक्षण करने पर ही उपलब्ध साधनों को सम्यक् रूप से प्रयुक्त किया जा सकता है।

उपर्युक्त प्रयोजक शक्ति का अनुसन्धान एक अथवा विभिन्न पात्रों द्वारा किया जाता है। यदि एक ही पात्र के कार्य पर मूल सिद्धि अनेक व्यक्तियों के सहयोग सम्पन्न होती है, वहाँ पर अवसर की आवश्यकतानुसार उनमें से किसी भी एक व्यक्ति को उस प्रयोजक शक्ति का अनेक बार स्मरण करते हुए प्रदर्शित किया जाता है।

नाटक के प्रधान कार्य के रुके हुए प्रवाह को पुनः संचालित करने के लिये प्रयोजक शक्ति के स्मरण एवं अनुसन्धान को शास्त्रीय भाषा में जल की सतह पर गिराये गये तेल बिन्दु के उपमान के आधार पर 'बिन्दु' करते हैं, क्योंकि जिस प्रकार से पानी की सतह पर गिराया गया तेल पूरी तरह फैल जाता है, उसी प्रकार कार्य की प्रयोजक शक्ति का स्मरण एवं अनुसन्धान पूरे नाटक पर फैला रहता है।⁵

3 पताका: नाटक के मुख्य नायक की लक्ष्य सिद्धि उन व्यक्तियों के सहयोग पर निर्भर होती है, जो राजमन्त्री अथवा अन्य व्यक्तियों की भौति उसके आश्रित न होकर स्वतन्त्र व्यक्ति होते हैं। वे या तो किसी निजी लक्ष्य, सिद्धि के लिये या बिना किसी महत्त्वपूर्ण निजी लक्ष्य सिद्धि को मन में रखे हुए भी नाटक के प्रधान सहयोगी बन जाते हैं। नाटक के उपकथानक को, जिसका प्रधान नायक मूल कथानक के नायक को सहयोग प्रदान करता है और किसी निजी

लक्ष्य की सिद्धि भी नाटक के प्रधान नायक के सहयोग से करता है, पताका कहते हैं, जिसका लक्षण है—

“व्यापि प्रासंगिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते।”⁶

4 प्रकरी: नाटक में जब किसी उपकथानक का नायक निजी लक्ष्य की सिद्धि मूल कथानक के प्रधान नायक के सहयोग से नहीं करता, अपितु किसी न किसी रूप में नाटक के प्रधान नायक का सहयोगी बनता है, तो उसको शास्त्रीय भाषा में 'प्रकरी' कहते हैं—

“प्रासंगिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता।

प्रकरीनायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम्।।”⁷

'पताका के रूप में जो उपकथानक है, वह नाटक के मूल कथानक के साथ घनिष्ट रूप से सम्बद्ध होता है तथा मूल कथानक के कार्य की आरम्भिक दशा से लेकर उसकी तीसरी अथवा चौथी कार्यावस्था तक वह विस्तारित रहता है। परन्तु 'प्रकरी' रूप उपकथानक नाटक के एक ही स्थल पर वर्तमान होता है और उसी स्थल पर उसका अन्त भी हो जाता है। अतएव प्रकरी को 'अन्तर्कथा' भी कह सकते हैं।

पताका एवं प्रकरी में मूल भेद यह है 'पताका' के रूप में जो उपकथानक होता है, वह नाटक के लेखक के ध्यान में चिरस्थायी रूप से विद्यमान रहता है, उसका उल्लेख वह मूल कथानक की ही भौति केवल कुछ कम विशद रूप में करता है क्योंकि इसमें मूल कथानक से कम सन्धियों होती हैं। प्रकरी रूप अन्तर्कथा को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में प्रकट किया जाता है और इसमें किसी सन्धि का समावेश नहीं किया जाता है।⁸

5 कार्य: अपनी लक्ष्य सिद्धि के लिये जिन साधनों का उपयोग करते हुए प्रधान नायक को नाटक का लेखक प्रदर्शित करता है उनमें शारीरिक एवं मानसिक शक्तियाँ तथा वे भौतिक वस्तुएँ भी होती हैं, जो उसकी निजी सम्पत्ति हैं। साधनों के इस समूह का उपयोग वह अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये करता है। कार्य शब्द का अर्थ उपर्युक्त साधन स्वरूप वे सभी वस्तुएँ हैं, जिन पर नायक का निजी अधिकार है। इसका लक्षण है—

“अपेक्षितन्तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः।

समापनन्तु यत्सिद्ध्येतत्कार्यमिति सम्मतम्।।”⁹

कार्य के अभाव में किसी भी प्रकार के रूपक की रचना नहीं की जा सकती है, क्योंकि प्रत्येक रूपक का उद्देश्य प्रधान नायक के जीवन का वह विशिष्ट अंश प्रदर्शित करना है, जिसमें वह किसी लक्ष्य की सिद्धि करता है, अतएव उसकी लक्ष्य सिद्धि के उन विविध साधनों का उल्लेख करना अत्यावश्यक है, जिनकी सहायता से वह अपने लक्ष्य की सिद्धि करता है।

रूपक में कार्य की पाँच अवस्थाओं के समान उपर्युक्त सभी अर्थ प्रकृतियों का वर्तमान होना आवश्यक नहीं है। नायक की लक्ष्य-सिद्धि में जितनी अर्थप्रकृतियाँ आवश्यक होती हैं, उतनी ही रूपक के विभिन्न भेदों में वर्तमान होती हैं, जिस रूपक में लक्ष्य सिद्धि को प्राप्त करते हुए नायक को किसी सहयोगी के बिना, स्वतन्त्र रूप में प्रदर्शित करते हैं, उनमें पताका एवं 'प्रकरी' नामक अर्थ प्रकृतियाँ अनिवार्य नहीं हैं, परन्तु 'बीज' बिन्दु तथा कार्य रूप अर्थ प्रकृतियों का प्रत्येक नाटक में वर्तमान होना परमावश्यक है।

निष्कर्षतः संस्कृत नाटकों का लक्ष्य नैतिकता को जीवन्त रखना और उसको उन्नतिमुखी बनाना होता है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये वह नायक को संघर्षशीलरूप में प्रदर्शित करता है। वह इस संघर्ष को ऐसे रूप में प्रदर्शित करता है, जिससे दर्शक अपना तादात्म्य नायक के साथ में स्थापित कर सके। तादात्म्य के फलस्वरूप

नायक के समान ही अनुभव करता है और परवर्ती समय में उसके विषय में विचार करता हुआ नैतिकता के मार्ग पर अग्रसर होने के लिये उत्साहपूर्ण होता है। तादात्म्य के लिये आवश्यक है कि नाटक के लम्बे कथानक में एकसूत्रता बनी रहे, अतः नायक से सम्बन्ध अधिकारिक कथावस्तु का प्रासंगिक कथावस्तु के साथ अन्तर्गुम्फन एवं पूर्वापर प्रसंगों की सुश्रृंखला बनाने के लिये अर्थ प्रकृतियों का समुचित प्रयोग नाटककार की कुशलता का पारिचायक होता है।

संदर्भ

- 1 धनंजय—दशरूपक, प्र. प्रकाश/18
- 2 भरत—नाट्यशास्त्र, 19/27
- 3 धनंजय—दशरूपक, 1/17
- 4 वही, 1/17
- 5 अभिनवगुप्त—अभिनव भारती, भाग 3 , पृ 14
- 6 विश्वनाथ—साहित्यदर्पण, 6/49
- 7 वही, 5/52
- 8 डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय—स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृ 445
- 9 विश्वनाथ—साहित्यदर्पण, 6/53